प्रथम वर्ष

शाह गोविन्दजी वीरम फेक्टरी कम्पाउन्ड़, मोंढा रोड, औरंगाबाद

(सभ्यग्ज्ञान प्रवेशिका) अभ्यास ८

❀ शुभाशीर्वाद ❀

तपस्वीरत्न, अचलगच्छाधिपति प.पू.आ.भ. श्री गुणोदयसागरसूरिश्वरजी म.सा.

❀ दिव्य कृपा ❀

आगम आराधिका बा.ब्र.प.पू. मुक्तिश्रीजी म.सा.

शासन प्रभाविका प.पू. जयलक्ष्मीश्रीजी म.सा.

मार्गदर्शिका- प्रेरक - सा. डॉ. जयदर्शिताश्रीजी म.सा. M.Sc., Ph.D.

हिन्दी अनुवाद :- सौ. काश्मीरा लोडाया, सौ. भारतीबेन दंड

सौजन्य : अ.सौ. लेखाबेन धनपतिभाई मोमाया - कच्छ बारोई - हाल जलगाँव

सूत्र - विधि और रहस्य

-: गुरु स्थापना सूत्र - पंचिदिय :-

पंचिदिय संवरणो, तह नवविह बंभचेर गुत्तिधरो ;
चउविह कसाय मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो । १
पंचमहव्वयजुत्तो, पंच विहायार पालन समत्थो ;
पंच-समिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणेहिं गुरु मज्ज । २

शब्दार्थ

पंचिदिय : पाँच परकार की इंद्रियाँ
संवरणो : काबू में रखने वाले, समभाव रखनेवाले
तह : तथा
पंच-महव्वयः पाँच महाव्रतों
जुत्तो : युक्त
पंच-विहायार : पाँच प्रकार के आचार

नवविह : नव प्रकार की
बंभचेर : ब्रम्हचर्य की
गुत्तिधरो : गुप्ति को धारण करनेवाला
चउविह : चार प्रकार की
कसाय : कषायों से
मुक्को : मुक्त
इअ : ये
अठ्ठारस गुणेहिं : अठ्ठारह गुणो से
संजुत्तो : युक्त, सहित
पालन - समत्थो : पालने में समर्थ
पंच - समिओ : पांच समिति से युक्त
तिगुत्तो : तीन गुप्तिओं से युक्त
छत्तीस गुणेहिं : छत्तीस गुणों से
गुरु : गुरु
मज्झ : मेरे

अर्थ :- पांच इंद्रियो के विषयों को काबू में रखनेवाले, तथा नौ प्रकार की बाडों को धारण करणे वाले, चार कषायों से मुक्त, ये अठारह गुण; १ तथा पांच महाव्रतों को धारण करने वाले, पाँच प्रकार के आचारों का अच्छी तरह से पालनकरने वाले, पाँच समिति का पालन करनेवाले, तीन गुप्तिओं का पालन करने वाले, इस प्रकार छत्तीस गुणों से युक्त मेरे गुरु हैं । सभी धर्मक्रियायें गुरु की आज्ञा लेकर करनी चाहिये । इससे यह सूत्र साक्षात गुरु के अभाव में धर्म पुस्तकादि में गुरुबुद्धि रख कर उसकी स्थापन की जाती है । इस सूत्र में आचार्य भगवत् के छत्तीस (३६) गुणों का वर्णन है ।

गुरुवंदन विधि

सामान्य रुप से सबेरे देववंदन के पश्चात गुरुवंदन के लिये जाना चाहिये । गुरु महाराज का योग हो तो उनके पास जाकर उन्हें विधि पूर्वक वंदना करनी चाहिये । प्रथम दो ''खमासमण'' देना, उसके बाद खडे होकर ''इच्छकार'' के पाठ से सुखशाता पूछना । वह निम्न प्रकार से -

इच्छकार (सुगुरु सुखशाता पृच्छा) सूत्र

इच्छकार ! सुह-राई ? (सुह देवसि ?) सुख-तप ? शरीर निराबाध? सुख-संयम जात्रा । निर्वहोंछो जी ? स्वामी शाता छे जी ? मत्थअेण वंदामि ।

-: शब्दार्थ :-

इच्छाकार : हे इच्छायुक्त गुरुजी
सुहराइ : सुख पुर्वक रात्रि गई ?
सुह-देवसि : सुख पूर्वक दिन गया ?
सुख -तप : सुख पूर्वक तप होता है ?
शरीर निराबाध : शरीर रोग रहित है ?
सुख संजम यात्रा निर्वहो छो जी : आप चारित्र की यात्रा-पालन सुखपूर्वक कर रहे हो ?
स्वामी शाता छे जी ? हे स्वामी आपको सभी प्रकार से शाता है जी ?
मत्थअेण वंदामि : आपकों मै मस्तक से वंदन करता हूँ ।

अर्थः (शिष्य गुरु को सुखशाता पूछता है, वह निम्न प्रकार से) हे गुरुजी ! आपकी इच्छा हो तो पूछुं । आपकी रात्रि सुख पूर्वक व्यतित हुई ? (आपका दिन सुखपूर्वक व्यतित हुआ) आपकी तपश्चर्या सुख-पूर्वक होती है ? आपका शरीर रोग-पीडा रहित है न ? आपकी संयम रुपी यात्रा सरलता पूर्वक हो रही है ? हे स्वामी ! आपको सभी प्रकार से सुख-शाता है जी ? आपको मैं मस्तक से नमस्कार करता हूं जी ।

इस सूत्र से सबेरे अथवा दिन के किसी भी वक्त गुरु-वंदन करते वक्त उनकी सुख - शांति पूछी जाती है ।

सबेरा हो तो **''सुहराइ''** कहना और दोपहर के पश्चात **'' सुहदेवसि''** कहना । इस प्रकार सुख-शाता पूछकर **''अब्भुट्ठिओ''** कहना प्रथम **''इच्छा कारेण संदिसह भगवन ! अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं (देवसिअं) खामेमि ?''** तब गुरु कहे **''खामेह''** इस प्रकार गुरु खमाने की आज्ञा करें, तब **''इच्छं''** कहकर खमासमण देने की मुद्रा में नीचे झुक कर दांया हाथ जमीन पर उल्टा थोडा आगे रखकर और बांया हाथ से मुंह के आगे कपडा (रुमाल/मुहपत्ती) रख कर **''जंकिंचीअपत्तिअं''** बोलना ।

१. मत्थअेण वंदामि बोलने पूर्वक दो हाथ जोडकर मस्तक झुकाकर वंदन करना वह फिट्टा वंदन कहलाता है ।
२. खमासमण सूत्र बोलकर दो हाथ, दो घुटने और मस्तक ये पाँच अंग भूमि को स्पर्श करे इस तरह झुकाकर वंदन करना उसे थोभ वंदन कहते हैं ।
३. दो वक्त वांदणा सूत्र बोलने पूर्वक बारह आवर्त से जो वंदन करते हैं, उसे द्वादशा वंदन कहते हैं ।

अब्भुट्ठिओ - गुरु क्षमापना सूत्र

इच्छाकारेणं संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसिअं खामेउ ?

इच्छं, खामेमि + देवसिअं ।

जंकिचि अपतिअं, परपतिअं, भत्ते, पाणे, विणअे, वेआवच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाअे, उवरिभासाअे, जंकिंचि मज्ज विणय परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा, तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

-: शब्दार्थ :-

इच्छाकारेण : स्व इच्छासे
सदिसह : आदेश दिजिए
भगवन् : हे भगवन्
अब्भुठिओमि : उठा हूँ
अब्भिंतर : अंदर
देवसिअं : दिन के अपराध को
खामेउं ? : खमाने को
इच्छं : मैं चाहता हूँ
खामेमि : मैं खमाता हूँ
जंकिचि : जो कोई
अपत्तिअं : अप्रितीभाव
परपत्तिअं : विशेष अप्रितीभाव
भत्ते : भोजन संबंधी
पाणे : पानी संबंधी
विणअे : विनय संबंधी
वेआवच्चे : वैयावच्च संबंधी
आलावे : एक बार बोलने संबंधी
संलावे : बार बार बोलने संबंधी
उच्चासणे : ऊँचे आसन पर बैठने संबंधी
समासणे : सम आसन पर बैठने संबंधी
अंतरभासाअे : बीच में बोलने संबंधी
उवरिभासाअे : बढा कर विशेष रुप से बोलने संबंधी
जं किंची : जो कुछ
मज्ज : मुझसे
विणय : विनय
परिहीणं : हीन
सुहुमं : सूक्ष्म
बायरं : स्थूल, ज्यादा
तुब्भे : तुम
जाणह : जानते हो
अहं : मैं
न जाणामि : जानता नहीं
तस्स : वह सभी
मिच्छामि : मेरा निरर्थक निष्फल
दुक्कडं : दुष्कृत्य (पापाचरण)

अर्थ : जो कुछ अप्रीतिभाव या विशेष अप्रीतिभाव उपजाया हो; भोजन सबंधी, पानी संबंधी, विनय संबंधी, गुरुसेवा संबंधी, एक बार बोलने संबंधी, बारबार बोलने संबंधी, गुरु से ऊंचे आसन पर बैठने संबंधी, गुरु से समान आसन पर बैठने संबंधी, गुरु बोलते हों तब उनके बीच में बोलने संबंधी, कही हुई बात को विशेष रुप से कहने संबंधी, जो कुछ मेरे से विनयहीनता कम या ज्यादा हुई हो वह आप जानते हो मैं नहीं जानता, उन संबंधी मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो ।

इस सूत्र से गुरु के प्रति हुए अविनय अपराध की क्षमापना ली जाती है । इसके पश्चात खमासमण देकर पच्चखाण लेकर सुखशाता पूछ कर ''साहेब भात-पानी का लाभ देनाजी'' कह कर व्याख्यान समय हो तो व्याख्यान सुनना । इति गुरु-वंदन विधि ।

गुरु वंदना सूत्र

अड्ढाईज्जेसुदीव - समुद्देसु, पनरससु, कम्मभूमिसु; जावंत केवि साहू, रयहरण - गुच्छ पडिग्गहधारा । १ पंच महव्वयधारा, अठ्ठार - सहस्स सीलंगधारा ; अख्खायायार चरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थअेण वंदामि । २.

-: शब्दार्थ :-

अड्ढाईजेस्सु : ढाई
दीवसमुद्देसु : द्वीप और दो समुद्र में
पनरससु : पंद्रह
कम्मभूमिसु : कर्मभूमि में
जावंत : जितने
केवि : कोई भी
साहू : साधू
रयहरण : रजोहरण / ओधा
गुच्छ : गुच्छक
पडिग्गह : पात्रो को
धारा : रखने वाले, धारण करने वाले
पंचमहव्वय : पाँच महाव्रत को
धारा : धारण करने वाले
अठ्ठार : अठारह
सहस्स : हजार
सीलंगधारा : शील, चारित्र के अंग को धारनेवाले
अख्खायायार : संपूर्ण आचार रुप
चरित्ता : चारित्र को पालने वाले
तेसव्वे : उन सभी को
सिरसा : ललाट से
मणसा : मन से
मत्थअेण वंदामि : मैं मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ

अर्थ :- ढाई द्वीप और दो समुद्र संबंधी पंद्रह कर्मभूमि में जो रजोहरण (ओघा), पात्रों की झोली बांधने का गुच्छक और पात्रे वगैरह धर्मोपकरण को धारण करने वाले ... १

पांच महाव्रत को धारण करने वाले, अठारह हजार शील, चारित्र के अंग को धारण करने वाले, संपूर्ण आचाररुप चारित्र को पालने वाले, जितने भी साधु है, उन सभी को मैं ललाट से, मन से मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ ।

❖❖❖❖❖❖

श्रावक किसे कहें ?

(श्रावक के २१ गुण)

१२. गुणानुरागी

मनुष्यभव गुणों का संग्रह करने के लिये है । मानवभव की सफलता और निष्फलता का आधार प्राप्त किये हुए गुणों पर ही है । जिनशासन गुणों का पुजारी है, व्यक्ति का नहीं । अतः श्रावक बनने के लिये अन्य कोई बात न बताते हुए गुणवैभव की बात बतायी है । गुणों का वैभव जिस का विशाल वही सच्चा श्रावक । श्रावकों के गुण वैभव का विचार करते हुए आज हम बारहवे गुण का परिचय कराते हुए ''धर्मरत्न प्रकरण'' में देवेंद्रसूरि बताते है...

गुणरागी गुणवंते
बहु मन्नई निग्गुणे उवेहेइ
गुण संग्रहे पवत्तइ
संपत्तं गुणं न मइलेइ ।।(१९)।।

गुणानुरागी जीव क्या करे यह बताते हुए कहते है..
गुणवान जनोंका बहुमान करता है ।
निर्गुणियोंकी उपेक्षा करता है ।
गुणोंका संग्रह करने में प्रवर्तमान है ।
प्राप्त किये हुए गुणोंको मलिन होने नहीं देता ।

देख लो अपने जिंदगी को, अपने जीवन में उपरोक्त चार बाते दिखाई देती है क्या अथवा सभी बातों का दुष्काळ अथवा अभाव है ।

अनादि काल से यह जीव राग में फंसा हुआ है, परंतु वह राग कभी भी गुणानुराग न बना । अपना राग, कामराग, स्नेहराग एंव दृष्टिराग में ही फंसा हुआ रहा । इन सब चित्रों में लिपटा हुआ जीव गुणानुरागी किस तरह बन सकता है ? गुणानुरागी बनने के लिये तीनो राग मंद परिणामी बनाना ही पडेगा । यह राग त्रिपुटी गुणवान उपर राग होने नहीं देता, उसका बहुमान नहीं करने देता । गुणवान को पहचान ने के लिये गुणानुरागी दृष्टि होना आवश्यक है ।

एकबार कृष्ण महाराज ने दुर्योधन से कहा '' इस सभा में कितने सज्जन है ? उनकी यादी बनाओ ।''

दुसरी तरफ युधिष्ठिर से बात की ''इस सभा में दुर्जन कितने है उनकी यादी बनाओ ।''

समय बितने पर दोनो कृष्ण महाराजा के पास वापिस आये । दोनों के हाथ में कोरा कागज था । कृष्ण आश्चर्यचकित हुए । दोनों को पूछा ''क्यों तुमने मेरा छोटासा काम नहीं किया ?''

दुर्योधन ने कहा '' कृष्णजी ! इस सभा में एक भी सज्जन दिखाई नहीं दिया । किसकी यादी बनाउँ ?''

कृष्ण ने युधिष्ठिर को देखा, युधिष्ठिर ने कहा ''महाराज ! मुझे पूरी सभामें कोई दुर्जन ही नही दिखाई दिया तो क्या करुं ?''

उस सभा में दुर्योधन को सज्जन मिलता नहीं और युधिष्ठिर को दुर्जन दिखाई नहीं देता । क्या होगा इसके पीछे का रहस्य ?

''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि ''

दोष देखने की आदतवाली दृष्टि को कभी भी गुण दिखाई नहीं देते जबकि गुणों को पहचान ने में काबिल बनी हुई नजर को कहीं भी दोष दिखता नहीं । हम किस के जैसे है ? दुर्योधन जैसे या युधिष्टिर जैसे ?

जिसे पिलीया हुआ हो उसे श्वेत वस्तु भी पिली दिखाई देती है । यह व्यक्ति या वस्तु का दोष नहीं, वह दृष्टि का दोष है ।

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए इस

जीवको अन्य जीवों के दोष देखने की और खुद के गुण देखने की आदत हो गयी है । यदि इस आदत को बदला जाय तो हमारा कार्य बदला जा सकता है । सब जीवों के गुणदर्शन होने लगे और अपने खुद के दोषों के दर्शन होने लगे तो जहां व्यक्ति का गुणदर्शन होगा वहाँ स्वंयमेव बहुमान-सन्मान जगेगा ।

दोष देखदेखकर आज तक क्या प्राप्त किया ?

संतोप्पसंतोपि परस्य दोषा,
नोक्ता श्रुता वा गुण मावहंति,
वैराणि वक्तुः परिवर्ध्दयंति
श्रोतु श्व तत्वंति परांकुबुद्धि ।

प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न पराये दोष कहने से अथवा सुन ने से कोई भी गुण प्राप्त नहीं होता, इसके विपरित दोष कहने से वैर में वृद्धि होती है और सुनने से कुबुद्धि आती है ।

इस प्रकार आज तक इस दोष दृष्टि के कराण वैर में बढोतरी कर अपनी बुद्धि को सद्‌बुद्धि बनाने की जगह कुबुद्धि ही बना ली है ।

अब हम ऐसे हानि करनेवाले मार्ग से पीछेहठ कर गुणों की ओर ही नजर करेंगे, क्योंकि वर्तमान में कलिकाल में, पंचमकाल में छोटे में छोटे गुण की प्राप्ति भी अत्यंत दुष्कर बन गयी है । ऐसे समय में गुण दिखाई दे तो खुश होकर बहुत बहुत प्रशंसा और अनुमोदना करनी चाहिये । गुणीजनों के गुणों को देख उनकी प्रशंसा और अनुमोदन करने से भी जीव को गुणों की प्राप्ति होती है ।

कालंमि अणाइअे
अणाई दोसे ही वासिअे जीवे,
जं पावियई गुणो वि हु,
तं मन्नह भो महच्छरियं ।।

अनादिकाल से अनादि दोषों से वासित हुए इस जीव में यदि एक भी गुण मिले तो महाआश्चर्य मानना पडेगा ।

बहुत सारे गुणवाले तो इस विश्व में विरल ही होते है । पर एक एक गुण वाले भी मिलना मुश्किल है । इस तरह विचार करनेवाला गुणानुरागी जीव निर्गुणी की भी निंदा न करते हुए केवल उपेक्षा ही करता है । उनकी ओर मध्यस्थ भाव ही धारण करते है ।

गुणानुरागी जीव को जहाँ कहीं भी कोई गुण दिखाई देता है तो, तुरंत ही उसे जीवन में स्वीकारने, प्रगटाने का पुरुषार्थ करना है । क्योंकि गुणसंग्रह ही तो गुणानुरागी का कर्तव्य है ।

किसे कपडोंका शौक होता है....

किसे अलंकारोंका शौक होता है....

किसे चूडियाँ एवं बक्कल का शौक होता है...

जिसे जिसका शौक होता है, उसके पास उसीका खजाना होता है । आपके पास कौनसा खजाना है ? जैसा खजाना होगा वैसा शौक होगा, वैसी दृष्टि होगी। क्या दिखाई देता है ? दोष का खजाना या गुणोंका भंडार ? अनादि के दोषों के खजाने को खाली कर गुणों के भंडार को भरपूर बनाने के लिये सच्चा पुरुषार्थ शुरु करना चाहिये ।

गुणानुरागी साधक कभी भी अपने गुणों को मलीन होने नहीं देता । सम्यकदर्शन की प्राप्ति होने के बाद वह कभी भी गुणों को मलीन होने नहीं देता । दिन ब दिन उसका सम्यग् दर्शन ज्यादा और ज्यादा निर्मल बनता जाता है । सम्यग् दर्शन के साथ प्राप्त किये हुए व्रत आदि में भी अतिचार घटते जाते है । व्रतों की शुद्धि में वृद्धि होती है । दिन ब दिन व्रतों के पालन में ज्यादा से ज्यादा सावधान एवं मजबूत बनते जाता है ।

जीवन को गुणों से अलंकृत करनेवाला और शुद्ध पवित्र व्रतों के स्वामी बनानेवाला गुणानुरागी गुण को प्रत्येक साधक ने पाना ही चाहिये ।

१३. सत्कथी

नासइ विवेगरयणं
असुह कहासंग कलुसिय मणस्स.
धम्मो विवेगसारु त्ति
सक्क हो हुज्ज धम्मत्थी ।।२०।।

अशुभ कथा के प्रसंग से कलुषित हुए मनवाले का विवेकरत्न नष्ट हो जाता है, और धर्म तो विवेकप्रधान है। अतः धर्मार्थी पुरुष ने सत्कथी होना चाहिये।।२०।।

धर्म तो विवेकसार ही है याने हिताहित के ज्ञानपूर्वक ही होता है । विवेक याने अच्छी और खराब अथवा सच,झूठ वस्तुका परिज्ञान । विवेक अज्ञानरुप अंधःकार का नाश करने वाला होने से रत्न कहलाता है।

ऐसा यह विवेकरत्न विकथा से कलुषित हुए हृदय में नष्ट होता है।

विकथा याने क्या ?

जो कथा करनेसे, सुनने से मन कलुषित हो, आत्मा कर्म से भारी बन जाय ऐसी आत्मा का अहित करनेवाली कथा याने विकथा । यह विकथा चार प्रकारकी है -

चउहि विकाहाहिं - इत्थि कहाअे, भक्तकहाअे, देशकहाअे, रायकहाअे।

विकथा चार प्रकारकी है - स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा।

ये चार कथाएँ हमारे आजुबाजु सतत देखने, सुनने मिलती है और कही भी जाती है । बहुत सारा हमारा समय इन विकथाओं में पसार हो जाता है। वह समय ज्ञानीयों की दृष्तिसे निष्फल है, इतनाही नही पर आत्मा को दुर्गति की ओर खींचनेवाला है । अतः भव्य जीवों को जिनेश्वर भगवंतो ने ऐसी विकथाएं करने का निषेध किया है।

स्त्रीकथा :- अमुक महिला के नेत्र सुंदर है, रुप मनोहर है, केश काले लंबे है, उसकी चाल उंट जैसी है, अमुक स्त्री के अठ्ठारह अंग आडे तेडे है, उसका स्वर कौवे जैसा है । यह स्त्री दुर्भागी है, वह स्त्री मौज मजा करनेवाली है, वह कन्या फॅशनपरस्त है, आधुनिक है । आदि कहकर स्त्री की निंदा अथवा प्रशंसा करना वह स्त्रीकथा है।

भोजनकथा :- दुधपाक में बदामपिस्ते बराबर चाहिये, साग तो स्वादिष्ट ही चाहिये, खाने में मिष्टान्न तो चाहिये ही, धारी तो सुरत की, पेडे तो कच्छ के ही, भेल तो चोपाटी की ही, दही खाने का मजा तो पालीताने में ही, चाय तो मसाले वाली ही चाहिये । आइस्क्रीम तो धूपकाले में चाहिये ही, हमें तो सलाद,अचार के बिना नहीं चलता, पान तो बनारसी ही अच्छा, ऐसी सब बातें याने भोजन कथा।

देशकथा :- काश्मीर तो धरती का स्वर्ग है, मजा तो अमेरिका में आता है, मुंबई का क्या जीवन है ? मालवा की भूमि धान्य और सुवर्ण का भंडार है, म्हैसुर तो चंदन के बगीचों का देश है, पंजाब तो लुटेरों का धाम है, गांवों में रहने जैसा नहीं है, गुजरात में तो दिनदहाडे लुटा जाता है, कहीं भी घूमने जैसा नहीं, दिल्ली तो ठगों की नगरी है, ये सब बातें देशकथा है।

राजकथा :- हमारा राजा शत्रु से लडने में समर्थ नहीं, उस राजा को तो मारना ही चाहिये, उस राजा की जीत होनी चाहिये, दोनों राजाओं का युध्द हुआ, अच्छा हुआ, उस राजा के तो ऐसे ही हाल होना चाहिये । इस राजा को तो राज चलाते ही नहीं आता, इसे क्या राजा कहें, यह राजा दुष्ट है, जल्द मर जाय तो अच्छा, यह राजा अच्छा है अतः लंबे समय तक राज करे तो अच्छा, ऐसा सब कहना, बोलना राजकथा है।

ये चारों प्रकारकी कथाएं भारी कर्मों का बंध करनेवाली होने से सज्जनों ने, धर्मीजनों ने इन कथाओं का दुर्जनो की तरह त्याग करना चाहिये।

इन कथाओंके साथ शृंगाररस को उद्दीप्त करनेवाली, मोह बढानेवाली, हास्यक्रीडा निर्माण करने वाली और पराये दोषों को बताने वाली कथाएं भी विकथाएं ही है । उनका भी पंडितजनों ने त्याग करना ही चाहिये ।

सत्कथा क्या है ?

तीर्थंकर गणधरमहर्षि चरित गोचराः
कथा वचन व्यपारा यस्य स सत्कथो
भूयाद् भवेत् धर्मार्थी धर्म चरणाभिलाषुको
येन धर्मरत्नहिः स्या दिति ।

तीर्थंकर गणधर और महर्षिओं के चरित्र संबंधी कथा याने बातचीत जो करते है वह सत्कथा कहलाती है । धर्मार्थी याने धर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष ने ऐसे सत्कथ बनना चाहिये की जिससे वह धर्मरत्न पाने के लायक बन सके ।

हे जीव ! यदि तु सचमुच धर्मध्यान में लीन बनना चाहता है तो जिनेश्वर, गणधर और मुनि आदि की सत्कथारुप तलवार द्वारा विकथारुप वल्ली को काट डाल ।

अनादि काल से हमारी आत्मा विकथा के रसवाली बनकर दुर्गतिओ में भटकती रही है । यदि अब उसे सद्गति की ओर पलटाना हो तो विकथा के रस को दूर कर सत्कथा में रस जगाना चाहिये । स्वयं को सत्कथा के गुण से अलंकृत करना चाहिये । सत्कथ बने बिना विकथा जीव को कहाँ पहुँचा देती है, उसे जानने समझने के लिये रोहिणी की कथा सुनना आवश्यक है ।

कुंडिनी नामकी विशाल नगरी...

वहाँ थे एक सुदर्शन सेठ और मनोरमा सेठानी.. उनकी रोहिणी नामक गुणवती बालविधवा लडकी थी। तीनों संध्या जिनपूजा, दोनो समय आवश्यक, नियमित सामायिक और स्वाध्याय, उसका नित्यक्रम था ।

उत्तम दान, उज्वल शील, यथाशक्ति तप और शुभ भावना सहित निर्मल श्रावक धर्म का पालन करती थी ।

उसके ऐसे उत्कृष्ट जीवन को देखसुन मोहराजा भी चिंतीत हो उठे । मोहराजा ने रोहिणी को धर्मभ्रष्ट करने की जाहिरात दी । कोई बीडा उठाने को तैयार नहीं ।

तभी मोहराजा के सेनापति की पत्नी विकथा एंव बालक प्रमाद ने बीडा उठाया उसने मोहराजा से निवेदन किया कि '' राजन् ! आपकी मेहरबानी हो तो इस रोहिणी को आधे पल में धर्म से भ्रष्ट करने में समर्थ हूँ । मेरे सामने उसकी क्या गिनती ?''

''उपशांत कषायी और मनःपर्यवज्ञानी हुए ऐसे अनेकों को मैने मेरे पुत्र के साथ रहकर चारित्र से भ्रष्ट किया है । चौदहपूर्वधरों को भी नरक और निगोद में पहुँचाया है ।

अब इस विकथा और प्रमाद ने रोहिणी के चित्तमें प्रवेश किया । अतः रोहिणी जिनमंदिर में जाकर भी अन्य श्राविकाओं के साथ अनेक प्रकार की विकथाएं करने लगी ।

विकथा के साथ प्रमाद जुड गया । धीरे धीरे रोहिणी ने जिनपूजा छोड दी, प्रसन्नचित्त से हो रहा देववंदन छोड दिया । सतत विकथा से अन्यों के धर्म आराधना में खलल पहूँचाने लगी ।

बडे सेठ की लडकी होने से कोई कुछ कहता नहीं था, अतः वह विकथा में ज्यादा भान भूलने लगी । कोई सज्जन समझाने का साहस करे तो वह सामने बहुत बोलने लगी । विकथा के साथ निंदा जुड गई, सब ने समझाया पर वह न समझी । पिता ने समझाया पर वह न समझी ।

निंदा विकथा में जुडा हुआ जीव क्या कर रहा है, इसका उसे भान नहीं रहता । परिणाम की भी उसे

चिंता नहीं रहती ।

एक बार रोहिणी देश के राजा के पटरानी के शील विरुध्द बातें कर निंदा करने लगी । दासीयों ने इस बारे में सुना, उन्होंने जाकर रानी को बता दिया । रानी ने राजा से कहा, राजा ने सेठ को बुलाकर कहा । शेठ ने कह दिया ''हे राजन ! मेरी कन्या मेरी बात मानती नहीं है, वह मेरी आज्ञा में नहीं है ।'' राजाने उसे बुलाया, खुब विटंबना करवायी और देशनिकाल का आदेश दिया ।

विकथा में आसक्त होनेवाले जीवों को कैसे दारुण भोग भोगने पडते है ।

रोहिणी धर्म पाकर भी विकथावश सब हार गयी । अनेक प्रकार के शीत, ताप, क्षुधा, पिपासा आदि दुःख सहन करते हुए मरकर नरक में गई । वहाँसे निकलकर तिर्यंचगति में अनेक भव कर अनंतकाल निगोद में रखडकर अनुक्रमे मनुष्य भव पाकर मोक्ष जायेगी ।

विकथा में लगे रहने से भोगने पडते है, उन दुःखों को जान भव्य जीवों ने सदा वैराग्यादि से भरपूर और निर्दोष सत्कथा ही करनी, सुननी चाहिये ।

हम सबने पूर्व पुण्य के उदय से धर्म को प्राप्त किया है । धर्मस्थानों को पाया है । अब विकथा,प्रमाद में कहीं भी लिप्त न हों इसके लिये सावधान रहें ।

सामायिक हो या पौषध, दर्शन हो या पूजा, प्रवचन हो या प्रतिक्रमण, मंदिर हो या उपाश्रय कहीं भी अपने जीवन में विकथा को प्रवेश ही ना दे । सतत सावधान रहकर सत्कथाओं में मस्त बनें । सत्कथ बनकर मिली हुई सामग्री सफल बनाने में उद्यमशील बने रहे ।

१४. सुपक्ष

''अमुल्य रत्न भी पैसों के बल पर सहजता से पा सकते है, परंतु करोडो रत्नों द्वारा भी मनुष्य-आयु का क्षणमात्र भी प्राप्त करना दुर्लभ है''

ऐसे अत्यंत दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर जो भव्य जीव धर्मरत्न को पाने के लिये उद्यमशील रहता नहीं वह मनुष्य भव हार जाता है । नहीं, नहीं हमें मानवभव गँवाना नहीं है । धर्मरत्न पाकर सफल जीवन के स्वामी बनना है । क्या पायेंगे इस भवमें ? कैसे गुणों को विकसित करेंगे जीवन में ?

अणुकूल धम्मसीलो
सुसमाचारो य परियणो जस्स
अेस सुपक्खो धम्मं
निरंतरायं तरइ काउ ।। २१।।

जिसका परिवार अनुकूल एंव धर्मशील होते हुए सदाचारयुक्त हो वह पुरुष सुपक्ष कहलाता है । ऐसा पुरुष निर्विघ्नपने धर्म कर सकता है ।

श्रावक का चौदहवा गुण सुपक्ष नामक कहा है । सुपक्ष का अर्थ बताते हुए कहा है **''शोभनः पक्षो यस्स स सुपक्ष''** शोभन पक्ष याने परिवार जिसका हो वह सुपक्ष है । सुपक्ष का विशेषार्थ कहते हुए बताते है -

अनुकूलो धर्माविघ्नकारी : अनुकूल याने धर्म में विघ्न नहीं करनेवाला ।

धर्मशीलो धार्मिक : धर्मशील याने धार्मिक

सुसमाचार सदाचार चारी : सुसमाचार याने सदाचार परायण ऐसा जिसका परिवार हो वह सुपक्ष कहलाता है ।

अनुकूल परिवार : आज ऐसे अनेक परिवार देखनेको मिलते है जहाँ घर की एक व्यक्तिको धर्म करने की इच्छा हो, दर्शन, पूजा, सामायिक व्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में भाग लेने की भावना हो पर घर में बाकी सब अनुकूलता कर न देते हो, दुसरों को धर्मप्रति रुचि न हो अतः धर्म करने में सहायता करने के बजाय विघ्न, अंतराय, अवरोध खडे करते हो तो कोई भी आराधना में सहभागी नहीं हो सकता । घरके व्यक्तियों के इच्छा विरुध्द धर्म करने का प्रयत्न करें तो घरमें संघर्ष होता है । ऐसा

परिवार कभी भी सुपक्ष नहीं बन सकता ।

परंतु सुपक्ष परिवार के स्वामी बनने के लिए, धर्म करने उद्यमवंत बने हुए को घर में से सभी प्रकार की अनुकूलता मिलती हो, इतना ही नहीं पर कभी घर की आराधक व्यक्ति प्रमादी बन जाय तो उसे टकोर कर धर्म आराधना में आगे बढने की सतत प्रेरणा दी जाती रहती है । पर्वाधिराज पर्व अभी अभी पूरे हुए थे ।

एक कन्याने अठ्ठाई तप की आराधना की थी । उसके भावा के गीतों का आयोजन था । कन्या के माता-पिता लाभ देने की बिनती करने आये । बिनती को ध्यान में रखकर उस तरफ गोचरी के लिये गई । सबहुमान पधारो कहकर रसोईघर में ले गये । वहाँ कन्या के दादा-दादी आये । पौत्री को बुलाया, मुझे कहा ''साहेब ! इसे पच्चक्खाण कराओ ।''

मैने पूछा ''किस बात का पच्चक्खाण कराउं ?''

दादा बोले, ''साहेबजी ! ज्ञानपंचमी करती है परंतु एकासन से करती है । अब इसने अठ्ठाई की है तो अब पांचम उपवास से करनी है । आठम पक्खी नवकारसी, चोविहार करने की और आनेवाले साल में ग्यारह उपवास करने का पच्चक्खाण दे दो ।''

इसे कहते है अनुकूल परिवार । परिवार का सदस्य आराधना करे तो घरमें सबको आनंद हो, सब उसकी सेवा, वैयावच्च करने को तैयार हो, अपने से न होता हो , फिर भी जो करता हो उसकी सतत अनुमोदना हो, उसे आगे बढाने, उत्साह बढाने में प्रयत्नशील हो । ऐसा परिवार सुपक्ष बन सकता है ।

धर्मशील :- धर्मशील परिवार धर्म के कामों में जोडने या रोकने में खुद पर दबाव हुआ नहीं मानते और अनुग्रह हुआ है ऐसा मानते है ।

आज के जमाने में बहुतों को पूछते है ''महाराज साहेब के पास जाते है तो महाराज साहेब नियम दे देते है । अतः नहीं जाते ।

नहीं लगता यह हमारी अज्ञानता है ? हमारे जीवन में और धर्मशीलता प्रगट नहीं होती है अतः हमें लगता है कि दबाव होता है । धर्मशीलता याने सच्ची धार्मिकता प्रगट होती है , तब धर्ममार्ग की ओर ले जानेवाले के लिये हृदय में बहुमान जागृत हुए बिना नहीं रहता । हमारे पास जो समय, शक्ति और संपत्ति है वह धर्मद्वारा पुण्य बांधने से मिली है । उसमें धर्मका हक्क पहला है । पर हमारे पास यह समझ नहीं है । शास्त्रकारों ने वही शक्ति, वही संपत्ति और वही समय सफल कहा है , जो आत्मकल्याण के साथ जुडा है । देह के भोग-उपभोग के साथ जो समय, शक्ति और संपत्ति जुडी है उसे निष्फल कहने में आता है ।

शक्ति तो सिंह के पास भी है पर वह उसके आत्मकल्याण में सहायक नहीं बन सकती ।

संपत्ति तो व्यसनी के पास भी हो सकती है, वेश्या और जुआरी के पास भी हो सकती है, परंतु वह उसका आत्मकल्याण नहीं कर सकती ।

समय भी बहुतों के पास होता है । परंतु उसका सदुपयोग करना सब को नहीं आता ।

मनुष्य भव में मानवी चाहे तो अपना समय, शक्ति और संपत्ति धर्ममार्ग में जोडकर सफल बना सकते है , परंतु उसके लिये धर्मशील बनना आवश्यक है । गुरुजनों ने बताया हुआ मार्ग सहर्ष स्वीकारना पडता है । परंतु गुरुजनों के वाक्य जब अप्रिय और लप समान लगते है तब आत्मकल्याण का मार्ग हमसे दूर चला जाता है ।

सुसमाचारो :- ससमाचार परिवार राजविरुध्द अकार्य को त्यागने वाले होने से धर्म की लघुता का हेतु होता नहीं है ।

धर्म करनेवाले व्यक्ति जब राजविरुद्ध आचरण करे जिससे उन्हें कोई सजा होती है तो उससे धर्मी जनों के निंदनीय कार्यों से धर्म की निंदा अवहेलना

होती है । जब धर्मीजन सत्य,न्याय, नीतिपर स्थिर रहते है, तब धर्म का जयकार होता है ।

धर्म साधना में आगे बढनेवाली व्यक्ति की जवाबदारी बढ जाती है । उसका गलत कदम उसकी ही नहीं पर साथ साथ धर्म की भी निंदा और अवेहलना करनेवाला सिद्ध होता है । इस बात का उसे ख्याल रखना चाहिये । और धर्मसाधना करते हुए कभी भी सदाचार नहीं भूलना चाहिये ।

श्रावक के न्याय नीति के कारण ही दुष्काल, सुकाल में परिवर्तित हो गया । जैन शासन का जयजयकार हुआ ।

१५. दीर्घदर्शी

श्रावक के सुपक्ष गुण की आवश्यकता जानने के बाद अब श्रावक के पंद्रहवे दीर्घदर्शीरुप गुण बताते है ।

आढवई दीहदंसी
सयलं परिणाम सुंदरं कज्जं,
बहुलाभ मप्पकेसं
सलाहणिज्जं बहुजणाणं ।।२२।।

दीर्घदर्शी पुरुष जो जो काम परिणामतः सुंदर हो, बहुलाभ और कम क्लेशवाला हो बहुजन द्वारा प्रशंसनीय हो तो वह वही काम शुरु करता है ।

दीर्घदर्शी याने क्या ?

द्रष्टुमवलोकयितुं शील मस्येति दीर्घदर्शी

दीर्घ देखने की जिसे आदत हो वह दीर्घदर्शी पुरुष कहा जायेगा ।

दीर्घदर्शी पुरुष कैसे कार्य करते है यह बताते है-

परिणाम सुंदर अर्थात् अंत में सुख देनवाला

बहुत लाभवाला, ज्यादा फायदेवाला,

अल्प क्लेशवाला याने कम मेहनतवाला,

बहुजन श्लाघनीय याने स्वजन परिजनों के प्रशंसा योग्य ।

जिसके पास दीर्घदृष्टि नहीं है ऐसा जीव बहार की चमक-दमक देखर प्रभावित हो जाता है, वह वस्तुके, व्यक्ति के गुणदोषों को देख और समझ नहीं सकता ।

दीर्घदृष्टि का स्वामी देह को ही नहीं आत्मा को भी जानता है ।

दीर्घदृष्टि का स्वामी इहलोक को ही नहीं परलोक को भी देखता है ।

दीर्घदृष्टि का स्वामी भौतिक सुखों मे ही राजी नहीं होता, उसके पास धार्मिक और आध्यात्मिक भी जीवन होता है ।

ऐसे दीर्घदर्शी व्यक्ति जीवन में जो जो निर्णय लेते हैं, वे उनके जीवन को सुंदर बनानेवाले और शांति देनेवाले होते है । दीर्घदर्शी धनसेठ की कथा दुनिया में प्रसिद्ध है । हम यहाँ ऐसे ही आशयवाली अन्य कथा देखते है -

एक थे गुरु, उनके थे चार शिष्य, ये चारों शिष्य व्रतपर्याय एवं श्रुतज्ञानादि में आचार्यपद के लिये योग्य हो गये थे । गुरु के मन में एक ही चिंता थी की अब यह गच्छ किसे सोंपु ? गुरु भगवंत ने शिष्यों की परीक्षा करने के लिए हरेक को उचित परिवार देकर विहार कराया ।

चारों शिष्यो ने चार दिशाओं में विहार किया । सबके उपर उत्तरदायित्व आने पर गुण-दोष प्रगट होने लगे ।

सब में बडा शिष्य सुखशील बन गया और कटु वचन बोलने लग गया । किसी की सहायता नहीं करता था । अतः उसका परिवार थोडे ही समय में उसके पास से अलग होकर विहार करने लगा ।

दुसरा शिष्य बिमार रहने लगा । परिवार द्वारा अपनी सेवा करवाने लगा। परंतु परिवार को अच्छी आराधना नहीं करवायी ।

तीसरा शिष्य उद्यमवंत बना, उद्यमी रहकर

परिवार को अप्रमादी बनाता रहा ।

चौथा शिष्य पृथ्वीतल पर यश-कीर्ति मिलाने लगा । वह स्वयं जिनसिध्दान्त रुप अमृत का धाम था और दुष्कर श्रमणपना पालता हुआ, अपनी विहारभूमि को अपने गुणों से मानो देवलोक से आकर बसी हुई हो इस तरह संतुष्टित करता ।

देशकाल का जानने वाला बन कर सुदीर्घदर्शी होकर अनेक लोगों को प्रतिबोधित करते हुए बडे विशाल परिवार वाला बना ।

वे सब गुरु के पास आये तब गुरु ने सबका जीवन देखकर चारों शिष्यों को अपने गच्छ का नीचे दिये मुजब अधिकार दिया ।

पहले शिष्य को सचित-अचित परठने का काम बजाने का हुकम दिया ।

दुसरे शिष्य को कहा की उसने गच्छ के योग्य भक्तपान उपकरण आदि ला देना और थके बिना कर्तव्य निभाना ।

तीसरे शिष्य को कहा तुझे गुरु,स्थविर,ग्लान, तपस्वी, बालशिष्य आदि मुनियों की रक्षा करना क्योंकि दक्ष और विचक्षण हो वही कर सकता है ।

चौथे शिष्य को गुरु ने मन में बहुत प्यार लाकर अपना पूरा गच्छ सौंप दिया ।

इस तरह जिसको जो योग्य था वह सौंपकर आचार्य परम आराधक बने, और वह गच्छ भी पूर्ण गुणशाली बना ।

जीव-विचार

प्रथम चौवीस गाथा में संसारी जीवो के ५६३ भेद गिनाये गये जो संक्षेप में निम्न प्रकास से है ।

तिर्यंच के ४८ भेद (स्थावरके २२ + विकलेन्द्रिय के ६ + तिर्यंच पंचेन्द्रिय के २० = कुल ४८ भेद जानना) नारकों के १४ भेद, मनुष्यों के ३०३ तथा देवों के १९८ भेद = कुल भेद ५६३ हुए ।

संसारी जीवों के भेद की गिनती कराने के पश्चात अब संसार में से मुक्त हो गये हैं अथवा जिनके सभी कार्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसे सिद्ध अथवा मुक्त जीवों के भेद बताते है । सच में तो सभी सिद्ध समान स्वरुप के हैं । उनमें कोई भेद संभवित नहीं फिर भी सिद्ध बनने से पूर्व की अवस्था को लक्ष में रखकर अथवा सिद्ध बनने की क्रिया को लक्ष में रख कर सिद्ध के पंद्रह भेद कहे जा रहे है ।

सिद्धा पनरस भेया तित्था s तित्था ss इ सिद्ध भेएणं ।
ए ए संखेवेणं जीव विगप्पा समक्खाया ।।२५।।

तीर्थं अतीर्थादि भेद की अपेक्षा से सिद्ध के जीव पंद्रह प्रकार के है । इस तरह (संसारी एवं मुक्त) जीवों के भेद संक्षेप में भी स्पष्ट रुप से समझाए हैं ।

सिद्ध के पंद्रह भेद निम्न प्रकार से जानना -

१. जिन सिद्ध - तीर्थंकर बन कर मोक्ष में जाये वे जिन सिद्ध । उदा. पार्श्वनाथ

२. अजिन सिद्ध - तीर्थंकर पद पाये बिना मोक्ष में जाये वे अजिन सिद्ध । उदा. गणधर भगवंत

३. तीर्थ सिद्ध - तीर्थ चालू हो और मोक्ष में जाये वे तीर्थ सिद्ध । उदा. जंबुस्वामी

४. अतीर्थ सिद्ध - तीर्थ की स्थापना पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद के पश्चात मोक्ष में जाये वे अतीर्थ सिद्ध । उदा. मरुदेवा माता

५. गृहस्थ सिद्ध - गृहस्थावास में मोक्ष जाये वो गृहस्थासिद्ध ।

६. अन्यलिंग सिद्ध - तापसादि के वेश में मोक्ष में जाये वो अन्यलिंग सिद्ध । उदा. वल्कलचिरी

७. स्वलिंग सिद्ध - जैन साधु के वेश में मोक्ष में जाये वो स्वलिंग सिद्ध । उदा. प्रसन्नचंद्र राजर्षि

८. स्त्रीलिंग सिद्ध - स्त्री मोक्ष जाये वो स्त्रीलिंग सिद्ध । उदा. चंदनबाला

९. पुरुषलिंग सिद्ध - पुरुष मोक्ष जाये वो पुरुषलिंग सिद्ध । उदा. गौतमस्वामी

१०. नपुंसक लिंग सिद्ध - नपुंसक मोक्ष में जाये वो नपुंसकलिंग सिद्ध । उदा. गांगेय

११. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध - कोई निमित्त से बोध पाकर मोक्ष में जाये वो प्रत्येक बुद्ध सिद्ध । उदा. करकंडु

१२. स्वंयबुद्ध सिद्ध - स्वयं ही बोध पाकर मोक्ष में जाये वे स्वयंबुद्ध सिद्ध । उदा. कपिल

१३. बुद्ध बोधित सिद्ध - दूसरों के उपदेश से मोक्ष जाये वे बुद्ध बोधित सिद्ध । उदा. वायुभूति

१४. एक सिद्ध - एक समय में एक ही मोक्ष में जाये वो एक सिद्ध । उदा. महावीर स्वामी

१५. अनेक सिद्ध - एक समय में अनेक मोक्ष में जाये वो अनेक सिद्ध । उदा. ऋषभ देव

एक समय में १०८ से ज्यादा मोक्ष में नहीं जाते ।

विश्व में दिखाई देते जीवों के भेद-प्रभेद द्वारा हमने कुल पाँचसौ त्रेसठ भेद समझे । अब आगे इन संसारी जीवों का विशेष अभ्यास किस तरह हो

सकता है ? तो बताते है -

एएसिं जीवाणं, शरीरमाउठिई सकायम्मि ।
पाणा जोणी पमाणं, जेसिं जं अत्थि तं भणिमो ।।२६।।

अर्थ - इन जीवों के शरीर का प्रमाण, आयुष्य, स्थिति, स्वकाय स्थिति, प्राण और योनि का प्रमाण जिनका जितना है उतना कहूंगा ।

हमें किसी व्यक्ति को पहचानना हो उसका बराबर परिचय करना हो तो, उसकी उंचाई, चेहरा, रंग वगैरह की जानकारी जरुरी है । उसी प्रकार जीव को जानने के लिये केवल उनके भेद जान लेने से नहीं चलेगा, पर हरएक भेद के जीव के शरीर का प्रमाण (लंबाई) कितनी है । हरएक जीव भेद का आयुष्य कितना हो सकता है ? हरएक जीव बार बार उसी गति में कितने समय तक जन्म-मरण कर सकता है ? हरएक जीवभेद के प्राण कितने होते हैं । उनकी उत्पन्न होने का स्थान कैसा होता है, ये जानना आवश्यक बनता है । यहाँ जीवभेदो का इस तरह सविशेष अभ्यास हो सकता है ।

१. जीवों का शरीर प्रमाण

अब हम प्रथम एकेन्द्रिय जीवों के शरीर का प्रमाण जानने का प्रयत्न करेंगे -

अंगुल असंख भागो, सरीरमेगिंदियाणं सव्वेसिं ।
जायण सहस्यमहियं, नवरं पत्तेयरुख्खाणं ।।२७।।

अर्थ - सर्व एकेन्द्रिय जीवों का शरीर अंगुल के असंख्यातवे भाग जितना होता है, पर इतना विशेष है कि प्रत्येक वनस्पति काय का शरीर एक हजार योजन से अधिक है ।

एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और साधारण वनस्पतिकाय का शरीर अंगुल के असंख्यातवे भाग जितना होता है । एकेन्द्रिय के शरीर की ऊंचाई का यह नियम प्रत्येक वनस्पतिकाय को लगता नहीं, प्रत्येक वनस्पतिकाय एक हजार योजन से भी अधिक ऊंचाई वाला हो सकता है । यहाँ अपनी जानकारी के लिये जैन गिनती का प्रमाण समझते है -

१. उत्सेधांगुल - अपना एक अंगुल याने ही अंगुलमाप । अपनी ऊंगली की चौडाई का माप समझना है ।

छः उत्सेधांगुल · एक पाद (पैर का माप)

दो पाद · एक बित्ता (बालिश्त)

दो बित्ते - एक हाथ

दो हाथ - एक धनुष्य

दो हजार धनुष्य · एक कोस (गाउ)

चार कोस (गाउ) - एक योजन

फिलहाल इस देश में यही माप का व्यवहार चलता है ।

एकेन्द्रिय के शरीर की उंचाई जान ली अब दो इंद्रियादि जीवों के शरीर की ऊंचाई का विचार करेगें -

बारस जोयण तिन्नेव, गाउआ जोयणं च अनुकमसो ।
बेइंदिय, तेइन्दिय, चउरिंदिय देह मुच्चतं ।।२८।।

अर्थ - दोइंद्रिय, तेइंद्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों के शरीर की ऊंचाई अनुक्रम से बारह योजन, तीन गाउ (कोस) और एक योजन जानना ।

यहाँ द्वीइंद्रीय के शरीर की ऊंचाई बारह योजन बताई है, तेइंद्रिय के शरीर की ऊंचाई तीन गाउ (कोस) की बताई है, तथा चउरिन्द्रिय के शरीर की ऊंचाई एक योजन की बताई है । इस ऊंचाई को सुनकर हमें आश्चर्य हो यह सहज है, पर यह निश्चित प्रमाण नहीं पर द्वीइंद्रीय की ज्यादा में ज्यादा ऊंचाई बारह योजन हो सकती है, पर इससे ज्यादा तो संभव ही नहीं । यह उत्कृष्ट स्थिति है । यह सर्व क्षेत्रों को सर्वकाल को लक्ष में रखकर बताई गयी है ।

जो हम सभी क्षेत्र, सर्वकाल और सभी बेइंद्रियादि जीवों को नजर के समक्ष रख कर विचार करें तो हमें आश्चर्य नहीं होगा पर सहज ही बात का स्वीकार हो जायेगा।

अब नरक के जीवों की शरीर की ऊंचाई बताते हैं

धणुसय पंच पमाणा, नेरइया, सत्तमाई पुढवीए।
ततो अद्धध्धूणा, नेया रयणप्पहा जाव।।२९।।

अर्थ - पांचसो धनुष्य की ऊंचाईवाले नारक जीव सातमी नरकपृथ्वी के जानना उनसे आधी आधी ऊंचाई कम प्रमाण वाले नारक जीवों की रत्नप्रभा पृथ्वी तक जानना।

सात नारकी में रहे जीवों की ऊंचाई बताते हुए कहते है -

सबसे अधिक ऊंचाई सातमी नरक के जीवों की है, जो पाँचसो धनुष्य की है। फिर जैसे जैसे उपर जाएं वैसे वैसे ऊंचाई आधी,आधी होती जाती है।

१) सातमी नरक के जीवों की ऊंचाई - पांचसो धनुष्य
२) छठवी नरक के जीवों की ऊंचाई - ढाइसो (दो सौ पचास धनुष्य।
३) पाँचवी नरक के जीवों की ऊंचाई - सवासो धनुष्य
४) चोथी नरक के जीवों की ऊंचाई - ६२ धनुष्य दो हाथ
५) तीसरी नरक के जीवों की ऊंचाई - ३१ धनुष्य और १ हाथ
६) दुसरी नरक के जीवों की ऊंचाई - १५ धनुष्य दोहाथ १२ अंगुल
७) पहली नरक के जीवों की ऊंचाई - ७ धनुष्य, ३ हाथ, ६ अंगुल

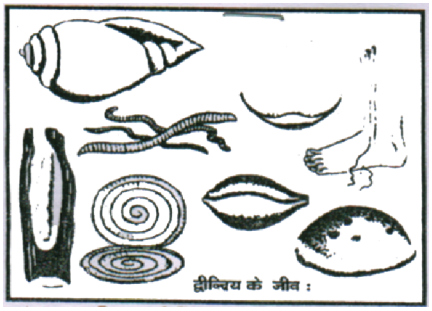

द्वीन्द्रिय जाति के जीव

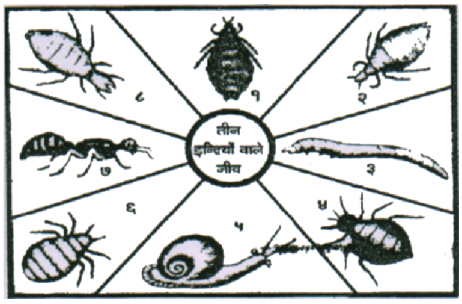

त्रीन्द्रिय जाति के जीव

नव - तत्व.... (निर्जरा-तत्व - बंधतत्व)

अनादि से आत्मा के साथ जुडी हुए कर्मरज को आत्मा से दूर करना वह निर्जरा तत्व है । मोक्ष की मंजिल की तरफ आगे बढते साधक के लिये निर्जरा अति आवश्यक है । संवर से नये कर्म बंधते अटकते हैं । निर्जरा से पुराने कर्म क्षय होते हैं । निर्जरा तप के द्वारा ही होती है । शास्त्रकार महर्षिओ ने छः बाह्य छः अभ्यंतर ऐसे बारह तप के प्रकार समझाकर मुमुक्षो जीवों पर महान उपकार किया है । तप के बारह भेद अच्छी तरह जानकर समझकर यथाशक्ति उन्हे करके कर्म मुक्ति के लिये अपूर्व उल्लास जगाना है ।

निर्जरा तत्वके पश्चात हमें संसार में जकड कर रखने वाला बंध तत्व का परिचय कराया है । चौदह राजलोक में कार्मण वर्गणा तो ठूंस ठूंस कर भरी हुई है । वह अपनी आत्मा का कुछ भी बिगाडने में समर्थ नहीं, परंतु हम जब आश्रव का हाथ पकडते हैं, साथ लेते है और कर्म को बंधवाने वाले निमित्तो के आधिन बनते है, राग द्वेष या कषाय की शरणागति स्वीकार कर लेते हैं, तभी कार्मण वर्गणा आत्मा के साथ क्षीर-नीर की तरह जुडकर कर्मबंध बनती है । यह कर्मबंध आत्मा के गुणों का आवरण करके, आत्म गुणों को दबाकर स्वयं का प्रभाव बताता है ।

आइये ! निर्जरा, बंध को पहचानकर निर्जरा को प्राप्त करें, बंध से आत्मा को बचाने का पुरुषार्थ करें ।

अणसण मुणो अरिआ, विति संखेवणं रसच्चाओ ।
काय किलेसो संली, णयाय बज्जो तवो होई ।।२९।।

अनसन, उणोदरी, वृतिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता बाह्य तप है ।

अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म जुडे हुए हैं । इन कर्मो को आत्मा से दूर करने का मुख्य शस्त्र है तप । तप से कर्म की निर्जरा होती है । ये तप दो प्रकार के है - १) बाह्य तप और २) अभ्यंतर तप । बाह्य विश्व के सजीव देख सके जान सके और काया को तपावे वह बाह्य तप है । बाह्य तप का दूसरा नाम द्रव्य तप है । कर्म पुद्गलों को आत्मा से अलग करना वह द्रव्य निर्जरा है । बाह्य तप के छः प्रकार है ।

१. अनशन - अशन याने आहार और अनशन याने आहार का त्याग । अनशन याने परमात्मा के द्वारा बताये शास्त्रोक्त मार्ग से आहार का मर्यादित समय के लिये अथवा जीवन पर्यन्त त्याग है ।

२. उणोदरी तप - उन याने कम, उदरी याने उदर पूर्ति । हमें उदर पूर्ति के लिये (पेट भरने के लिये) जितना जरुरी है, उससे कम वापरना, खाना वह उणोदरी तप है ।

३. वृत्ति संक्षेप तप - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मनोवृत्तिओ की मर्यादा करना वो वृत्तिसंक्षेप तप है । खाने की वस्तुएं, खाने का क्षेत्र, कितनी बार खाना वगैरह का नियम करने से यह तप होता है ।

४. रस परित्याग - रसयुक्त पदार्थो के उपयोग में मर्यादा वह रस परित्याग तप है । मांस, मदिरा, मक्खन और मध ये चार महाविगई हैं । उसका जीवनभर त्याग करना है । जबकि, दूध,दही, घी, तेल, गुड और कडा (तला हुआ) ये छः विगइ हैं , इनका यथाशक्ति त्याग करना है । वह रसपरित्याग है ।

५ कायक्लेश तप - काया को कष्ट देकर काया पर विजय प्राप्त करना वह कायक्लेश तप है । विविध आसनजय, कायोत्सर्ग, विहार, लोच वगैरह कायक्लेश तप है ।

६. संलीनता तप - अशुभ मार्ग में प्रवर्तित मन वचन और कायादि को अशुभ से पीछे हटाकर शुभ में प्रवर्तित करना वह संलीनता तप है ।

पायच्छितं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
ज्झाणं उस्सग्गो विअ, अब्भितरओ तवो होई ।।३५।।

प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग ये अभ्यंतर तप हैं ।

बाह्य तप के छः भेद बताने के पश्चात अब अभ्यंतर तप के छः भेद बताते है । बाह्य विश्व देख,जान न सके परंतु आत्मा और मन को तपावे वह अभ्यंतर तप है । अभ्यंतर तप के छः भेद निम्न प्रकार से है -

१. प्रायश्चित - प्रायः याने विशेष से चित्त की शुद्धि करे वो प्रायश्चित है । जाने अनजाने जीवन में हो गये पापों की शुद्धि करने के लिए ये दस प्रकार के विशिष्ट तप है । (आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, कायोत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित)

२. विनय - ज्ञानादि गुणो से अलंकृत गुणवान महात्माओ की आशातना से बचना और उनकी बहुमान, सन्मान पूर्वक भक्ति करना वह विनय तप । विनय तप सात प्रकार के है । (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काया और उपचार विनय)

३. वैयावृत्य - आचार्यादि महात्माओ की योग्य आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, वसति, औषध आदि से भक्ति करना उनकी आज्ञा का पालन करना वह वैयावृत्य तप दस प्रकार से है । (आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, स्थविर, ग्लान, शेक्ष, साधर्मिक, कुल, गुण, संघ)

४. स्वाध्याय - स्व - स्वयं को, अध्याय - पढना पढाना, स्वयं अपने को पढना तथा पढाना वह स्वाध्याय तप पाँच प्रकार से है । (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा)

५. ध्यान - योग की एकाग्रता अथवा आत्मरमणता वो ध्यान है । ध्यान के ४ प्रकार में से आर्त और रौद्रध्यान संसार को बढाने वाले हैं, वह तप नहीं । धर्म और शुक्लध्यान शुभ-शुद्ध ध्यान होने से निर्जरारुप तप में समाविष्ट होते हैं । दोनो के चार चार प्रकार हैं ।

६. कायोत्सर्ग - कायोत्सर्ग शब्द में दो शब्द का समावेश है । काय + उत्सर्ग काय याने काया (शरीर) वगेरे और उत्सर्ग याने त्याग । काया वगैरह के व्यापार का त्याग और योग की निश्चलता वह कायोत्सर्ग तप है । यह दो प्रकार से है -

१) द्रव्य उत्सर्ग - द्रव्य वस्तुओं का त्याग रुपी तप । उदा. अशुद्ध आहार, उपधिगच्छ, शरीर आदि का त्याग वह भी द्रव्य उत्सर्ग तप है ।

२) भाव उत्सर्ग - कषाय, मिथ्यात्व, कर्म आदि का त्याग वो भाव उत्सर्ग है ।

बारस विहं तवो, निज्जरा य बंधो चउ विगप्पो अ ।
पयइ ठिइ अणुभागो, पअेसो भेअेहिं नायव्वो ।। ३६।।

बारह प्रकार का तप निर्जरा है, तथा प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश इन भेदों से बंध चार प्रकार का जानना ।

उपर की दो गाथा में तप के छः बाह्य और छः अभ्यंतर इस तरह कुल बारह भेद बताये । इन बारह प्रकार के तप द्वारा ही जीव अनादि काल के कर्मजाल से मुक्त हो सकता है । तप परम निर्जरा का कारण होने से भव्य जीवों को एक मात्र आत्मकल्याण के हेतु से शक्ति अनुसार तप करना ही चाहिये । तप बिना कर्मक्षय नहीं और कर्मक्षय के बिना मोक्ष नहीं । यह बात सतत स्मरण में रखने जैसी है ।

बंध

आत्मा जब जब भी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद का शिकार बनती है, तब तब वह बाह्य वातावरण में रही हुई कार्मण वर्गणा को स्वयं के पास खींचती है । वह कार्मण वर्गणा आत्मा के साथ क्षीर,नीर या लोह, अग्नि की तरह एकमेक होकर

कर्मस्वरुप चिपकती है, उसे बंध कहते है ।

बंध के समय एक साथ चार वस्तु नक्की होती हैं-

१. कर्म का स्वभाव वह प्रकृति बंध

२. कर्म के काल का माप वह स्थिति बंध

३. कर्म पुद्गल के शुभ-अशुभ रस का तीव्रमंदपना वह रसबंध

४. कर्म पुद्गल के दलिक का माप वह प्रदेश बंध

पयइ सहावो वुत्तो, ठिइ काला वहारणं ।
अणुभागो रसो नेओ, पअेसो दल संचओ ।। ३७।।

प्रकृति याने स्वभाव कहा है । काल का निश्चय वह स्थिति है । अनुभाग वह रस जानना तथा दलिक का संग्रह अथवा समुदाय वह प्रदेश जानना ।

प्रकृति बंध

जिस तरह मोदक अलग अलग प्रकार के होते हैं और उनका स्वभाव भी अलग अलग प्रकार का होता है । सूंठ का मोदक कफ को मिटाता है । मेथी का मोदक वात को दूर करता है, घी शक्कर का मोदक पित्त को शांत करता है, उसी प्रकार बंधता कर्म भी आत्मा के किसी न किसी गुण का आवरण करता है । उसे ढँकता है । उस कर्म के स्वभाव को प्रकृति बंध कहते है ।

स्थिति बंध

मोदक अलग अलग प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार उनके अच्छे रहने का काल (समय) भी अलग अलग होता है । कोई मोदक दो दिन अच्छे रहते हैं तो कोई मोदक पंद्रह दिन तक अच्छे रहते है । उसी तरह कर्म बंधता है उसी समय यह कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रहेगा वह निश्चित हो जाता है । कोई कर्म ४ महिने, ६ महिने, १२ वर्ष, २५ वर्ष, सागरोपम, पल्योपम तक रहता है । कर्म की आत्मा के साथ रहने का काल समय स्थिति बंध कहलाता है ।

रस बंध

मोदक में मिठास होने से सामन्यतः मोदक मीठे ही कहलाते है । फिर भी हर एक मोदक की मिठास में तरतमता होती है । मेथी के मोदक कडवे होते है, उसकी कडवास भी कम ज्यादा होती है । उसी तरह आत्मा के साथ जुडते शुभ अशुभ कर्म के रस में तरतमता होती है । कर्म बंध के समय रस में मंदता, तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता देखने मिलती है, उसे रसबंध कहा जाता है ।

प्रदेश बंध

मोदक के आकार में विविधता देखने मिलती है, कोई मोदक छोटा होता है, कोई मध्यम होता है, कोई बडा होता है । उनका वजन भी अलग अलग होता है, उसमें कण भी कम ज्यादा होते है । उसी तरह कर्म बांधते समय योगानुसार आत्मा कम ज्यादा कर्म दलिको के समुह को आत्मा के साथ जोडते हैं । उसे प्रदेशबंध कहते है ।

पड पडिहारासि मज्ज, हडचित्त कुलाल भंडगारीणं ।
जह अेअेसिं भावा, कम्माण विज्जाण तह भावा ।।३८।।

पट्टी, द्वारपाल, तलवार (खडग) बेडी, चित्रकार, कुंभार और भंडारी जैसे स्वभाव वाले होते हैं । इन ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो का भी वैसा ही स्वभाव जानो ।

गन्ने का रस मीठा, उसका स्वभाव मीठा
करेले का रस कडवा, उसका स्वभाव कडवा
मिरची का रस तीखा, उसका स्वभाव तीखा

आत्मा को चार गति चौर्यासी लाख जीवयोनि में भटकाने वाले कर्मो का स्वभाव कैसा । यहाँ दृष्टांत सहित आठ कर्म प्रकृतियों का स्वभाव बताया है, समझने जैसा है । आँख में देखने की शक्ति है, परंतु उपर पट्टी बांधने में आये तो देख नहीं सकते । उसी तरह आत्मा में अनंत ज्ञान है, परंतु उसके उपर

आवरण आ जाने से आत्मा अज्ञान के अंधकार में भटकती है । इससे आंखो पर बंधी पट्टी जैसा है **ज्ञानावरणीय कर्म ।**

द्वारपाल अगर इजाजत न दे तो महल में या दरबार में बैठे हुए राजा के दर्शन नहीं होते, उसी तरह दर्शनावरणीय कर्म से जीव विश्व के पदार्थो और इंद्रियों के विषयों को देख नहीं सकता इससे राजा के द्वारपाल जैसा है **दर्शनावरणीय कर्म ।**

तलवार अगर शहद से लिपटी हुई तो उसे चाटने पर स्वाद मीठा लगता है (वह शाता - वेदनीय) लेकिन तलवार की धार से जीभ कट जाने पर दुःख भोगना पडता है (वह अशाता वेदनीय) इससे शहद से सनी हुई तलवार जैसा है **वेदनीय कर्म ।**

मदिरा (शराब) पीने में शायद क्षणिक आनंद आये, परंतु उसका नशा चढने पर जीव विवेक खो बैठता है । क्या अच्छा ? क्या बुरा ? क्या करने जैसा है ? क्या नहीं करने जैसा है ? कुछ भी जानता नहीं उसी तरह मोह के नशे में जीव धर्म, अधर्म तथा हित, अंहित का विवेक खो बैठता है । इससे मदिरा जैसा है, **मोहनीय कर्म ।**

बेडी से जकडा हुआ (बंधा हुआ) गुनाहगार नियत समय से पहले मुक्त हो सकता नहीं, उसी तरह आयुष्य कर्म पूर्ण न हो तब तक उस गति में से मुक्ति नहीं मिलती, इससे बेडी जैसा है **आयुष्य कर्म ।**

होशियार चित्रकार जिस तरह विविध रंगो से युक्त सुंदर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरह चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म विविध रुप रंग वाले अंग, उपांगो युक्त देव मनुष्य आदि रुप बनाता है । इससे चित्रकार जैसा है **नामकर्म ।**

कुंभार कितनेक सुंदर, मांगलिक कार्यो के लिए घडे बनाते हैं, जो पूजे जाते हैं । तोकितने सुराही जैसे घडे बनाते है, जिसमें मदिरा भरी जाती है, जो निन्दित होते हैं । उसी तरह गोत्र कर्म कितनेक जीवों को उच्चगोत्र में जन्म देता है, जो पूजनीक बनते हैं । कितनेक नीच गोत्र में जन्म पाते हैं, वे निन्दित होते है, इससे कुंभार जैसा है **गोत्र कर्म ।**

राजा को धन देने की इच्छा हो परंतु भंडारी की इच्छा न हो तो वह विघ्न डालकर राजा को अटका सकता है, ऐसा है अंतराय कर्म । इससे राजा के भंडारी जैसा है **अन्तराय कर्म ।**

कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियाँ .....

यहाँ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, गोत्र और अंतराय कर्म अनुक्रम से पाँच, नव, दो, अठ्ठावीस, चार, एक सो तीन, दो और पाँच प्रकार वाले है । यहाँ आत्मा को संसार में घुमाने वाली कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियाँ बताई हैं । आत्मा के (सिद्ध भगवान के) आठ गुण है, उनको आवरण करने वाला एक एक कर्म है । आठ गुणों को आवरण करने वाले आठ कर्म की मूल प्रकृतियाँ हैं । और उनकी १५८ उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।

कर्म के मूल और उत्तर प्रकृतियाँ

१. ज्ञानावरणीय कर्म -	०५
२. दर्शनावरणीय कर्म -	०९
३. वेदनीयकर्म -	०२
४. मोहनीय कर्म -	२८
५. आयुष्य कर्म -	०४
६. नाम कर्म -	१०३
७. गोत्र कर्म -	०२
८. अंतराय कर्म -	०५
	कुल १५८

कुल १५८ उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।

स्थिति बंध - उत्कृष्ट और जघन्य

नाणे अ दंसणा वरणे, वेअणीअे चेव अंतरअेअ ।
तीसं कोडाकोडी, अयराणं ठिइअ उक्कोसा ।।४०।।
सत्तरिं कोडाकोडी, मोहणीअे, वीस नाम गोअेसु ।
तित्तीसं अयराइं, आउ ठ्ठिइ बंध उक्कोसा ।।४१।।
बारस मुहुतं जहन्ना, वेयणीअे अट्ठ नाम गोअेसु ।
सेसाणंत मुहुतं, अेयं बंध ठ्ठिइ माणं ।।४२।।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है ।४०।

मोहनीय कर्म की सत्तर तथा नामकर्म और गोत्र कर्म की बीस (२०) कोडाकोडी और आयुष्यकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस (३३) सागरोपम की है ।४१।

वेदनीय कर्म की जघन्य १२ मुहुर्त, नामकर्म की तथा गोत्रकर्म की ८ मुहुर्त और बाकी के पाँच कर्म की अन्तुमुहुर्त स्थिति बंध है ।४२।

प्रथम की दो गाथा में उत्कृष्ट तथा तीसरी गाथा में जघन्य स्थिति बंध बताया गया है ।

करोड को करोड से गुणाकार करने पर क्रोडाक्रोडी (कोटाकोटी) होता है ।

१०००००० X १०००००० = १०००००००००००००

कर्म	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
१. ज्ञानावरणीय	३० कोडा कोडी सागरोपम	अन्तमुहुर्त
२. दर्शनावरणीय	३० कोडा कोडी सागरोपम	अन्तमुहुर्त
३. वेदनीय कर्म	३० कोडा कोडी सागरोपम	१२ मुहुर्त
४. मोहनीय कर्म	७० कोडा कोडी सागरोपम	अन्तमुहुर्त
५. आयुष्य कर्म	३३ सागरोपम	अन्तमुहुर्त
६. नाम कर्म	२० कोडा कोडी सागरोपम	८ मुहुर्त
७. गोत्र कर्म	२० कोडा कोडी सागरोपम	८ मुहुर्त
८. अंतराय कर्म	३० कोडा कोडी सागरोपम	अन्तमुहुर्त

तीर्थंकरो की जीवन यात्रा

(शासनपति प्रभु महावीर)

कच्छ केसरी, अचलगच्छाधिपति प.पू.आ.भ. श्री गुणसागर सूरिश्वर म.सा.

प्रभु श्री महावीर भगवान का जन्म हुआ...

सर्वत्र आनंद, आनंद छा गया,

छपन्न दिककुमारियों ने आकर शुचिकर्म किया..

चौसठ इंद्रोने मेरु पर्वत पर जन्म महोत्सव किया....

सिध्दार्थ राजा ने क्षत्रियकुंड नगर में दस दिन का महोत्सव मनाया.....

बारहवे दिन नाम रखा, वर्धमान....

जन्मोत्सव के बाद दासदासियाँ, सेवकों के बीच सेवा लेते प्रभु, चंद्र की तरह और कल्पवृक्ष के अंकुर की तरह वृद्धि पाते हुए महातेजस्वी, चंद्र के समान मनोहर मुख वाले, सुंदर नेत्र वाले, भौंरे समान श्याम बालों वाले, प्रवाल जैसे लाल होंठ वाले, हस्तिसमान मनोहर गति वाले, उज्वल दंतपंक्ति वाले, कमल समान सुकोमल हाथ, पैर वाले, सुगंधी श्वासोश्वास वाले, देवों से अधिक स्वरुपवान, जातिस्मरण मति, श्रुत अवधिज्ञान वाले, आरोग्यवाले, धैर्य गांभीर्यादी गुणों के भंडार स्वरुप और जगतमें तिलकसमान ऐसे प्रभु आठ वर्ष के हुए, परंतु बालवय की खेलक्रीडा में जरा भी रस न बताने वाले थे । पर समवयस्क बाल कों के अत्यंत आग्रह से और त्रिशलामाता ने भी कहा '' अरे वर्धमानकुमार ! आप घर में ही क्यों बैठे रहते हो, बहार खेलने क्यों नहीं जाते ?'' ऐसे माता के वचन से माता को हर्ष देने के लिये खेलने गये । वहाँ कुछ बालक खेल रहे थे । उसमें शर्त थी की आगे जाकर जो इमली के वृक्ष को स्पर्श करेगा वह जीता और पीछे रहनेवाला हारा । और हारे हुए बालक ने जीते हुए खिलाडी को कंधो पर बैठाकर जहाँ से दौडे थे वहाँ ले जाए । सौधर्मेन्द्र ने वीर प्रभु के गुणगान किये, वह सहन न होने से मिथ्यादृष्टि देव , कुमार खेल रहे थे वहाँ आया और मुसल (सांदोले) जैसा मोटा, दो जीभ वाले, चमकते मणि वाले, भयंकर फुत्कार करते हुए, अत्यंत श्यामवर्ण वाले, क्रुर आकृति वाले, बडी फना वाले महान सर्प का रुप बनाकर उसने इमली के पेड को लिपट गया । ऐसे भयंकर सर्प को देख सब बालक भाग गये । फिर उस देव ने बालक रुप बनाकर वर्धमान कुमार को कहा की हम दोनों खेलें । प्रभुने हाँ कहा । दोनों साथ दौडे । अनंतबल वाले प्रभु ने इमली के वृक्ष को पहले स्पर्श किया और पकड कर सर्प को दूर फेंक दिया । प्रभु जीते और देव हारा अतः प्रभु को अपने कंधो पर बैठाकर देव चलता बना । प्रभु को डराने के लिये अपना शरीर सात ताल वृक्ष के जितना उंचा कर दिया । यह देखकर बालक भयभीत होकर भागने लगे, और नगर में जाकर कहा कि वर्धमानकुमार को कोई राक्षस उठा के ले जा रहा है । यह सुनकर त्रिशला देवी दुःख करते हुए पश्चाताप करने लगी की ''अरे ! मैं अभागिन ने ही कुमार को खेलने के लिये आज बहार क्यों भेजा ?'' अब मैं मेरे पुत्र का मुख कब देखूंगी ? आदि कहकर विलाप करने लगी ।

अब यहाँ पर देव को बढते देख कर अवधिज्ञान का उपयोग देकर जाना की कोई देव है । दया भाव होने पर शिक्षा करने हेतु उसके मस्तक पर एक मुक्का मारा । उस मुष्टि प्रहार से चिखता चिल्लाता देव पृथ्वी पर गिर गया । फिर प्रभु को नमन कर उस ने कहा ''देवलोक की सभा में इंद्रने जैसे तुम्हें बखाना है वैसे

ही तुम पराक्रमी, बलवान और धैर्यवान हो । पामर ऐसे मैं ने आपकी परीक्षा का प्रयत्न किया । मैं आपकी इसलिये बार बार क्षमा माँगता हूं । अन्य वीर होगे आप अपने धैर्य एवं पराक्रम से महावीर हो । ऐसा कहकर प्रभु को मुकुट एवं कुंडल देकर देव स्वर्ग में चला गया । प्रभु ने भी घर आकर माता-पिता को हर्षान्वित किया ।

प्रभु आठ वर्ष के हुए मोहवश मातापिता ने सामान्य बाल कों की तरह पाठशाला में पढने भेज ने के लिये शुभ दिन शुभ वेला में पाठशाला में भेजने की महोत्सवपूर्वक बडी तैयारी की ।

चतुरंगी सेना से घिरे हुए वीर प्रभु पंडित के यहाँ पढने के लिए बडे धामधूम से लाया गया । पंडित भी तिलक लगाकर सुवर्ण की जनोई पहनकर, स्वच्छ वस्त्र और आभूषणओं से अलंकृत होकर वर्धमानकुमार की प्रतिक्षा कर रहे थे।

इस अवसर पर शक्रेन्द्र का सिंहासन कंपायमान हुआ । अवधिज्ञानसे कारण जानकर इंद्र ने देवों से कहा की तीन ज्ञानवाले प्रभुको भी बालक जानकर मातापिता सामान्य शिक्षक के पास ले जा रहे है । यह योग्य नहीं लग रहा है । जिसतरह सरस्वती को पढाना और चंद्र को उज्ज्वल करने के प्रयत्न करना यह उचित नहीं वैसे ही प्रभु को पाठशाला में पढने के लिये भेजना बराबर नहीं है । क्यों कि प्रभु तो पढे बिना ही सब शास्त्रों के पारगामी है । अब प्रभु को पाठशाला में पढने ले जाया गया है तो प्रभु का अविनय न हो ऐसा करुं । ऐसा सोचकर ब्राम्हण का रुप लेकर इंद्र वहाँ पहुंचे । पंडित को योग्य ऐसे आसन पर प्रभु को बैठाकर पंडित के मनमें जो संदेह थे, वे संदेह प्रभु को इंद्र ने पूछे । पंडित विचार करने लगा की, ''मेरे ऐसे जटिल संदेहों का उत्तर यह बालक किस तरह देगा?''

पंडित ऐसा सोचता है, तबतक तो वर्धमानकुमार ने विस्तारपूर्वक, संतोष कारक ऐसे संदेहो के जवाब दिये । उन उत्तरों से संपूर्ण जैनेंद्र व्याकरण तैयार हो गया । पंडित ने सोचा की इतने लंबे अरसे से जो शंकाए दूर नहीं हो रही थी उन शंकाओं का इस बालक ने क्षणभर में निराकरण कर दिया । पंडित एवं लोग सोचने लगे ''इतना गहन ज्ञान इस बालक ने कहाँ प्राप्त किया होगा ?'' अरे ! इतना ज्ञान होने के बाद भी इस बालक में कितनी गम्भीरता है । पुनश्च पंडित ने सोचा महात्मा लोग ऐसे ही होते हैं, उन्हे गर्व नहीं होता । शरदऋतु के मेघ गर्जना करते है पर बरसते नहीं, जबकि वर्षा ऋतु के मेघ बिना गरजे बरसते है ।'' आदि चिंतन करते पंडित को इंद्र ने कहा '' पंडितजी इस बालक को सामान्य बालक मत समझना, ये तो तीन लोक के नाथ और सकल शास्त्रों के पारगामी महावीर परमात्मा मानना ।'' ऐसा कहकर इंद्र अपने स्थान पर चले गये ।

अनुक्रम से प्रभु बाल्यावस्था को पार कर यौवनावस्था को पाये । इस समय प्रभु के मातापित के शादी करने का आग्रह करने पर भोगावली कर्म शेष है ऐसा जानकर विरोध नहीं किया । अतः मातापिता ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त पर समरवीर राजा की यशोदा नामक कन्या से विवाह करवाया । प्रभु को प्रियदर्शना नामक पुत्री हुई । उस प्रियदर्शना कन्या को अपने बहन के पुत्र जमाली के साथ ब्याहा । उसे शेषवती नामक पुत्री हई ।

श्रमण भगवान महावीर प्रभु के पिता काश्यप गोत्रवाले थे । उनके तीन नाम इस प्रकार थे - सिद्धार्थ, श्रेयांस, यशस्वी ।

श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभुकी माता वासिष्ठ गोत्र की थी । उनके तीन नाम थे त्रिशला, विदेहदिन्ना, प्रीतिकारिणी ।

श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु के काका सुपार्श्व नामक थे ।

नंदीवर्धन नाम के बडे भाई थे । सुदर्शना नामक बहन थी और कौडिन्य गोत्रवाली यशोदा नामक पत्नी थी । प्रभु की कन्या काश्यप गोत्र की थी । उसके अणोज्जा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे ।

प्रभु की दोहित्री याने पुत्री की पुत्री काश्यप गोत्र की थी और उसके यशस्वती और शेषवती ये दो नाम थे ।

श्री वीर प्रभु तीस साल तक गृहस्थावास में रहे । प्रभु जब अठ्ठाईस साल के हुए तब श्री पार्श्वनाथ प्रभु के भक्त श्रावक ऐसे श्री वीरप्रभु के मातापिता अनशन कर मृत्यु पाकर चौथे माहेन्द्र देवलोक में देव हुए अतः अपना अभिग्रह पूर्ण हुआ है, ऐसा जानकर प्रभुने अपने बडे भाई नंदीवर्धन राजा को कहा की, ''मेरा अभिग्रह पूर्ण हो गया है अतः मैं दीक्षा लेता हूं । यह सुनकर नंदीवर्धन राजा ने कहा की ''अरे भाई ! क्षत पर क्षार मत डालो । एक तो मातापिता के विरह का दुःख है उस पर तुम दीक्षा लोंगे तो तुम्हारे विरह का दुःख आयेगा तो मैं कैसे सहन कर पाउंगा ? ''

प्रभुने कहा '' अरे भाई ! इस जीव के साथ सब जीवों का पिता, माता, भाई, बहन आदि रुप में अनेकबार संबंध हुआ है और वियोग भी हुआ है तो इस संसार के किस संबंध का आग्रह रख सकेंगे ?, सब संबंध क्षणिक है '' यहाँ नंदीवर्धन राजा ने कहा की, ''भाई तुम कहते हो वह संपूर्ण सत्य है पर तुम मुझे इतने प्रिय हो की तुम्हारा विरह मुझे अति संतापकारी होगा । उससे मेरी शांती के लिये तुम दो साल घर में रहो तो अच्छा रहेगा ।'' प्रभुने अवधिज्ञान से अपनी दीक्षा काल को दो साल की देर है ऐसा जानकर भाई को कहा की ''अच्छा ऐसा ही हो, परंतु अब से मेरे लिये किसी भी प्रकारका आरंभ नहीं करना, मैं प्रासुक आहार द्वारा एकासन कर मेरे शरीर का निर्वाह करुंगा ।''

फिर प्रभु ब्रम्हचर्य व्रत पालने लगे । स्नान, शृंगार का त्याग कर एकांत में ध्यानमग्न रहने लगे । वैसे ही वैराग्य रंजित बन समय पसार करने लगे ।

अब दो साल में से एक साल दीक्षा लेने को बाकी रहा तब ब्रम्हदेवलोक निवासी लोकांतिक देवों ने प्रभु के पास आकर इष्ट ऐसी गुणवाली मनोहर वाणी से निरंतर गुणगाकर, स्तवना कर इस तरह कहा '' हे उत्तम क्षत्रिय ! तुम जयवंता रहो, जयवंता रहो ! हे त्रिलोकनाथ ! आप प्रतिबोध पाओ और विश्व के सब जीवों को हितकारी ऐसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो ।''

प्रभु की दीक्षा को एक वर्ष बाकी रहा तबसे प्रभु ने प्रतिदिन सूर्योदय से आरंभ कर सवा प्रहर दिन चढे तबतक वार्षिकदान देना प्रारंभ किया । उस समय प्रभु दररोज एक करोड और आठ लाख सोनैया का दान देने लगे । साथ साथ वस्त्र, आभूषण, मणिरत्न, मुक्ताफल और मेवामिठाई का भी हररोज दान देने लगे ।

नगर के हर रास्ते और हर गली में ऐलान कर दिया था कि ''जिस को जो चाहे वह ले जाये '' ऐसी उदघोषणा करायी । प्रभु दान देते थे तब इंद्र देवों को आदेश देकर भंडारों को भरकर रखता था । यहाँ पर दान देने के छह अतिशय बताते है ।

सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर के हाथ में स्थिति करता है, इशानेन्द्र सुवर्ण छडी हाथ में रखकर देवों को दान लेते हुए अटकाता है, मनुष्य के ललाट में जितना हो उतना ही वह माँगे ऐसी प्रवृत्ति रखता है, चमरेंद्र खडा रहकर तीर्थंकर के हाथ में कम या ज्यादा सोनामहोर न आये ऐसी व्यवस्था करता है । भवनपति देव अन्य क्षेत्र के मनुष्यों को दान लेने लेकर आते है, वाणव्यंतर देव उन मनुष्यों को उनके क्षेत्र में वापिस छोड आते है ।

ज्योतिषी देव विद्याधरों को दान लेने के समाचार देते है । जब प्रभुने वार्षिक दान देने की शुरुवात की तो नंदिवर्धन राजाने भी तीन बडी दानशालाँए खुलवाई । एक दानशाला से भरतक्षेत्र के मानवों को अन्नदान देने की शुरुवात की, दुसरे दानशाला से वस्त्र आदि देने की शुरुवात की और तीसरी दानशाला से आभूषण आदि देने का प्रारंभ किया ।

तीर्थंकरों के अपने हाथों से दिये हुए दान के प्रभाव से इंद्रो का दो साल तक अंदर अंदर कलह नहीं होता । चक्रवर्ती आदि वह दान के सौनैये अपने भंडार में रखे तो चार साल यशः कीर्ति प्राप्त करते है । रोगी दान लेता है तो उस दान के प्रभाव से रोग चला जाता है और बारह साल तक नया रोग नहीं होता ।

एक साल में तीन सौ अठयासी करोड अस्सी लाख का दान दिया । हाथी, घोडे, रथ, वस्त्र, आभूषण, मिठाई इत्यादी का दान दिया उसकी तो गिनती ही नहीं ।

संवत्सरी दान देकर प्रभु दीक्षा लेने तैयार हुए, तब नंदिवर्दन राजाने दीक्षा की अनुमति दी और क्षत्रियकुंड ग्रामनगर को देवलोक के समान शृंगारित किया । देवों सहित चौसठ इंद्रो ने भी राजा के साथ दीक्षा अभिषेक किया । प्रभुजी को चंदनादि का विलेपन किया, उत्तमकोटि के वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर शिबिका में बिराजमान किया ।

बडे आडंबर के साथ प्रभुश्री महावीर देव क्षत्रियकुंड ग्रामनगर के मध्य मध्य भागसे अर्थात् बाजारों के रास्ते से होकर नगर के बहार आकर जहाँ ज्ञातखंडवन नामक उद्यान था और जहाँ अशोकवृक्ष है वहां पालखी रखाकर, पालखी में से उतरकर स्वयं ही वस्त्र, आभूषण उतारते है, अपने हाथों से ही पंचमुष्टि लोच करके जलपान रहित बेले के तप से, इंद्र ने बायें कधेंपर रखे हुए एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर प्रभु अणगार पने को प्राप्त हुए ।

प्रभु ने ''नमो सिध्दाणं'' कहकर भंते शब्द बिना ''करेमि सामाइयं सव्वं सावज्ज जोगं पच्चखामि'' आदि कहकर चारित्र स्वीकारा, तब प्रभु को चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ ।